कला और सौंदर्य की मिसाल है ओरछा का किला

हर किले का अपना अलग रूप और सौंदर्य होता है। यह अपने अंदर सिर्फ इतिहास ही नहीं समेटे रहते हैं, बल्कि इसमें कला के भी दीदार होते हैं। इन कलाकृतियों का सौंदर्य ही अनोखा नहीं है, बल्कि इसका भी अपना इतिहास और परंपरा है। ओरछा का किला भी कुछ ऐसा ही है। अपने अंदर बहुत नायाब सौंदर्य समेटे हुए। मध्य प्रदेश के ओरछा को भगवान राम की नगरी कहा जाता है। यहां के राजा राम हैं। इसलिए राम राजा मंदिर में प्रभु को सुबह शाम गार्ड ऑफ ऑनर देने की परंपरा है। ओरछा का इतिहास बहुत ही गौरवशाली रही है। आज भी यहां के किले को देखने और राजा राम के दर्शन को भारत ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया से पर्यटक आते हैं। यहां के किले आज भी अपने गौरवशाली इतिहास की कहानी कहते हैं।

उमंग अग्रवाल
कानपुर

16 वीं शताब्दी में बसा ओरछा शहर

ओरछा शहर की स्थापना 16वीं शताब्दी में हुई थी। बुंदेला महाराजा रुद्र प्रताप सिंह ने इस शहर की नींव 1501 में रखी थी। महाराजा रुद्र प्रताप सिंह ने महल का निर्माण शुरू कराया था, लेकिन यह उनके जीवन काल में पूरी तरह बनकर तैयार नहीं हो पाया। उनके बेटे भारतीचंद ने राजा महल का निर्माण पूरा कराने की कोशिश की पर वे भी इसमें सफल नहीं हुए। बाद में उनके बेटे मधुकर शाह ने महल को पूर्ण निर्माण 1531 में करवाया। महल के अंदर बुंदेली चित्रकारी के अद्भुत और नायाब नमूने देखने को मिलते हैं। कमरों में रामायण से संबंधित चित्र हर किसी को आकर्षित करते हैं।

नृत्यांगना के नाम पर भी एक महल

महाराज रुद्रप्रताप सिंह के वंशज राजा इंद्रसेन ने उस समय की मशहूर नृत्यांगना राय प्रवीण के सम्मान में एक महल की स्थापना कराई थी। इस महल को राय प्रवीण महल के नाम से लोग जानते हैं। यहां उकेरी गईं नृत्य की मुद्राएं यह दर्शाती हैं कि राजा नृत्य और संगीत को कितना बढ़ावा देते थे। बताते हैं कि शहंशाह अकबर को जब पता चला, तो उन्होंने राय प्रवीण और उनके गुरु केशवदास को दिल्ली स्थित महल बुलाया। जब राय प्रवीण ने देखा कि शहंशाह अकबर को उनके प्रति आसक्ति हो रही है, तो उन्होंने सांकेतिक रूप से गीत के जरिए उन्हें बताया कि मैं किसी और की प्रिय हूं। इसलिए उनका उपयोग करना आपकी गरिमा के अनुकूल नहीं होगा। इसके बाद शहंशाह अकबर ने राय प्रवीण को पूरे सम्मान के साथ ओरछा भेज दिया था।

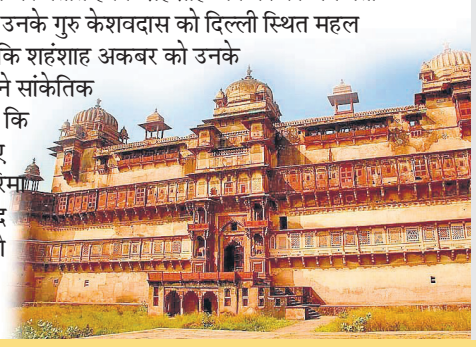

यहां जहांगीर भी एक रात ठहरे

ओरछा के किले पर मुगलों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। 1605 से लेकर 1627 तक बीरसिंह देव यहां के राजा थे। राजा बीर सिंह देव और मुगल बादशाह जहांगीर के बीच गहरी दोस्ती थी। महाराज ने अपने दोस्त जहांगीर के लिए महल की स्थापना कराई थी। इस महल में जहांगीर भी रुके। इसकी कलाकारी और भव्यता देखते ही बनती है। बीर सिंह के बेटे जुझार सिंह और जहांगीर के बेटे शाहजहां के बीच जब मनमुटाव हुआ तो शाहजहां ने जुझार सिंह से दिखावटी रिश्ता बनाया। जुझार सिंह और उनके छोटे भाई हरदौल सिंह के बीच दरार डाल दी। जुझार सिंह ने शाहजहां के कहने पर ही अपनी पत्नी से हरदौल की हत्या करा दी थी। रानी ने खीर में जहर डालकर हरदौल को खिला दिया था। कहा जाता है कि हरदौल अपनी भाभी से बहुत प्रेम करता था, लेकिन पति के कहने पर महारानी ने अपने देवर को मौत की नींद सुला दिया।

राजा बीर सिंह ने दतिया में बनवाया महल

दतिया जिले में स्थित सतखंडा महल पहाड़ पर स्थित है। यह महल राजपूत वास्तुकला और मुगल वास्तुकला का प्रतिनिधित्व करता है। ओरछा के राजा बीर सिंह देव द्वारा स्थापति किए गए 52 महलों में से एक है। सतखंडा महल अपनी अद्भुत कला के लिए प्रसिद्ध है। इस महल में 440 कमरे हैं। 1620 में ओरछा के राजा बीर सिंह ने इस महल की स्थापना की थी। इस सात मंजिला महल के निर्माण में न तो लकड़ी और न ही लोहे का इस्तेमाल किया गया है। यह सिर्फ पत्थर और ईटों से बनाया गया है। मजबूती का प्रमाण यही है कि यह 1620 से आज तक खड़ा है और पर्यटकों को लुभा रहा है। इस सात मंजिला खूबसूरत इमारत को केवल एक रात में रुकने के लिए ही इस्तेमाल किया जाता है। राजा बीर सिंहदेव को दतिया जिला उपहार में मिला था।

कहानियों के देश में रंगकर्म

हम कहानियों का देश हैं। हम हमेशा से कहानियां सुनते-सुनाते आए हैं। दादी-नानी की कहानियां, या फिर गांव की चौपाल पर बैठकर बड़े-बूढ़ों की कहानियां। कोई तमाशा आया तो हमने उसमें भी कहानी सुनी। हर बरस होने वाली रामलीलाओं में हमने राम-रावण की कहानी सुनी।

हमारे देश में बरसों से कहानियां कही और सुनी जा रही हैं। गली-मोहल्लों, चौबारों और चौपालों से होती हुई ये कहानियां मंच तक आईं। संगीत, प्रकाश, वस्त्र-परिधान, उच्च अभिनय और उत्कृष्ट निर्देशनों से जब ये कहानियां सजाई गईं तो जैसे जादू हो गया। लोगों के दिल-दिमाग पर जैसे कोई नशा तारी हो गया। कोई चमत्कार जैसे किसी को बांध लेता है, उसी तरह रंगमंच ने अपने दर्शकों, अपने चाहने वालों को बांध लिया। एक लंबी परंपरा चल पड़ी।

लव तोमर
रंगकर्मी

एक दौर में, जब सिनेमा उतना हावी नहीं था, लोगों के पास मनोरंजन के साधन के रूप में केवल रंगमंच या मंच पर प्रदर्शित होने वाली कलाएं ही थीं। तब हम वे कहानियां कह रहे थे जो लोगों की कहानियां थीं। लोग उनसे जुड़ते थे। वे अपने आपको उन नाट्य-प्रदर्शनों में खोजते थे और खोज लेने पर उनसे जुड़कर हंसते थे, रोते थे, साथ में गाते थे।

समय बदला। दर्शक और निर्देशक, एक ही तरह के काम बनाकर और देखकर ऊबने लगे। तब जरूरत महसूस हुई नए प्रयोगों की, जो समय की मांग को देखते हुए बड़े अभिनेताओं और निर्देशकों द्वारा किए भी गए। कुछ सफल हुए, कुछ असफल भी। एक संतुलन चाहिए था, जिसमें नई कहानियों या फिर पुराने नाटकों पर नए प्रयोग किए जाते, लेकिन प्रयोगों की अंधाधुंध दौड़ ने संतुलन बिगाड़ दिया। कहानियां नाटकों से इस तरह गायब हो गईं जैसे कभी थीं ही नहीं। बचे रह गए केवल खोखले प्रयोग, अवसादों से भरे अभिनय, शून्य में देर तक बिना भाव या बेहोशी से ताकते हुए अभिनेता, ऊल-जलूल आवाजें, चीख-चिल्लाहट।

वर्तमान समय में हम देखते हैं कि निर्देशकों की 'कुछ नया करने', 'कुछ अलग करने' की हवस ने कहानियों को कहीं बहुत पीछे छोड़ दिया है। प्रयोग, जो रंगमंच के लिए वरदान की तरह प्रकट हुए थे, धीरे-धीरे कब श्राप में बदल गए, यह न तो दर्शक भांप पा रहे हैं, न निर्देशक, लेकिन इनका असर दिख रहा है-नाटकों के प्रदर्शनों में दर्शकों की लगातार गिरती संख्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। ऑडिटोरियमों (नाट्यगृहों) में अब आपको दर्शक के रूप में ज्यादातर या तो आलोचक दिखाई देंगे, या फिर रंगकर्मी और कुछ दर्शक। इन 'महान प्रयोगों' वाले नाटकों में यदि आपको कुछ समझ न आए, तो गलती नाटक की नहीं, आपकी है। जैसा कि हरिशंकर परसाई जी ने कहा है- "जो समझ न आए, वो और पवित्र होता है।"

अब अपने मन के अवसादों और असुरक्षाओं को निर्देशकों और अभिनेताओं ने मिलकर मंच पर परोसना शुरू कर दिया है। इस सबमें से लेखक और उसकी लिखी गई कहानी को नाटक के लिए अब न तो ज़रूरी समझा जाता है, न ही कोई उसकी बात करता है। हिंदी रंगमंच में उच्च-स्तरीय नाटकों की कमी का मुख्य कारण लेखकों की लगातार होती उपेक्षा भी है।

आधुनिक समय में, जब स्क्रीन मनोरंजन इतना अधिक बढ़ गया है, तब यह कहा जा सकता है कि रंगमंच और लाइव आर्ट्स का भविष्य उज्ज्वल है, ख़ासकर नाटकों का, क्योंकि एक समय के बाद लोगों को स्क्रीन से ऊब होगी, रोज बनते सिनेमा से ऊब होगी, रील्स और यूट्यूब वीडियो से ऊब होगी। तब मानव-मन लौटेगा वापस उस खोज में, जहां वह खोजेगा इंसान का इंसान से सीधा कलात्मक संपर्क।

तब हमें कहानियों की ज़रूरत होगी। हमें जरूरत होगी प्रयोगों के साथ फिर से कहानियां कहने की। हमें समझना होगा कि दर्शक अपने अभिनेता के साथ रोना, हंसना, प्रेम करना, किसी सुंदर कहानी का किरदार बनकर खुद को भूल जाना चाहता है। नाटक देखते हुए वह डेढ़ से दो घंटे अपनी दुनिया से परे कहीं चले जाना चाहता है। वह तैयार है आपके साथ यात्रा करने को, लेकिन क्या हम तैयार हैं? यदि उत्तर 'न' में है, तो हमें तैयारियां करनी होंगी, इससे पहले कि देर हो जाए।

रंगकर्म को लेकर देश, शहर, राज्य में यदा-कदा कुछ-न-कुछ कार्यक्रम होते रहते हैं, जिनका उद्देश्य या तो दिखावा होता है, जिससे सरकारी मदद लेकर रंगकर्म के नाम पर किया जाए, या फिर आत्म केंद्रित होकर खुद ही खुद को प्रसन्न करने का आडंबर।

समय आ गया है कि हम इस जड़ता को तोड़ें। रंगकर्म को नई ऊर्जा देने के लिए ज़्यादा से ज्यादा युवाओं को इसमें शामिल किया जाए। उन्हें बागडोर दी जाए, मौका दिया जाए, स्थान और सम्मान दिया जाए। नई पीढ़ी न केवल नई दृष्टि लेकर आती है, बल्कि वह उन प्रश्नों के स्थायी समाधान की भी संभावना रखती है, जो बरसों से रंगकर्म को घेरे हुए हैं। जैसे जीविका, संरचना और सामाजिक प्रासंगिकता के प्रश्न।

भारत त्योहारों का देश है। त्योहार मतलब उल्लास। इस उल्लास में कला का बड़ा ही महत्व था। किसी भी त्योहार को ले लीजिए, उसमें आपको हर स्तर पर कला का समावेश मिलेगा। कहीं घर और जमीन पर सुंदर रंगोली और कलाकृतियां उकेरी जाती हैं तो दीपावली जैसे त्योहारों में भी दीवारों की रंगाई-पुताई कर उस पर सुंदर चित्र उकेरे जाते थे। जमीन पर रंगोली बनाई जाती थी। तमाम तरह आकार-प्रकार के दीये बनाए जाते थे। अहम यह था कि इन सारे ही कामों में सभी की सहभागिता होती थी। लोगों को रोजगार मिलता था। त्योहारों की अर्थ व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि सभी के घर दीपावली की खुशहाली बराबर से रहती थी। दौर बदल गया है। पुराना कहकर नई जनरेशन ने परंपराओं और मान्यताओं को किनारे कर दिया है।

ऋतु चौधरी
लेखिका

आधुनिकता लील गई कला और धरोहर

घर-आंगन की रौनक और मिट्टी की खुशबू

दीपावली से महीनों पहले ही घरों की लिपाई-पुताई शुरू हो जाती थी। दीवारें गोबर, लाल मिट्टी, गेरू और चुने से रंगी जाती थीं। महिलाएं अपने हाथों से आंगन में रंग-बिरंगे चित्र बनाती थीं। कहीं कमल खिला होता, कहीं मोर नाचता, तो कहीं पत्तियों और बेलों की लहराती सजावट होती। इन कलात्मक रचनाओं के लिए कोई प्रशिक्षण केंद्र नहीं था, न ही कोई 'आर्ट क्लास'। यह कला तो मां से बेटी और भाभी से ननद तक, स्नेह और अनुभव के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती थी। हर घर में कला थी, हर दीवार में स्नेह।

कभी दीपावली केवल एक पर्व नहीं, बल्कि पूरे जीवन का उत्सव हुआ करती थी। त्योहार आते ही घरों में हर्ष की लहर दौड़ जाती थी। बच्चे से लेकर बड़ों तक सब किसी न किसी तैयारी में जुट जाते थे। घरों की दीवारें, आंगन, गलियां सब अपनेपन की महक से भर उठती थीं। वह समय था जब त्योहार खरीदे नहीं जाते थे, बल्कि जीए जाते थे।

बाजार ने खत्म की कला की जीवंतता

बाजार त्योहारों पर हावी हो गए हैं। इसमें कला कब मर गई पता भी नहीं चला। बाजार ने हमारी परंपराओं को धीरे-धीरे निगल लिया। अब त्योहारों की तैयारी दुकानों और ऑनलाइन स्टोर्स पर पूरी होती है। न घर की लिपाई-पुताई के रंग हैं, न मिट्टी की खुशबू। बाजारीकरण ने उत्सवों को उत्पाद बना दिया है। दीये अब प्लास्टिक या बिजली के हो गए हैं, मिठाइयां डिब्बों में पैक होकर आती हैं। घरों में रौनक अब रोशनी की नहीं, एलईडी की चमक की हो गई है।

कुम्हारों का मौसम और दीयों की लौ

गांवों में कुम्हारिन नानी महीनों पहले से मिट्टी जमा करती थीं। उनके हाथों से गढ़े सैकड़ों दीये घर-घर की रौनक बनते थे। बाजारों और हाटों में दीयों की पंक्तियां सजी होती थीं। मिट्टी के ये दीपक न केवल घर को रोशन करते थे, बल्कि श्रम, परंपरा और आत्मनिर्भरता का प्रतीक भी थे। दीवाली से पहले के दिन कुम्हारों, रंगसाजों और बनिया के लिए उत्सव जैसे होते थे। हर कोई किसी न किसी रूप में त्योहार का हिस्सा था। कोई दीप बनाता, कोई मिठाई, कोई सजावट।

मां अन्नपूर्णा की चतुराई और सहेजने की परंपरा

उस समय घरों में गाय-भैंसें होती थीं, दूध की कोई कमी नहीं। पर त्योहारों के खर्चे का हिसाब बड़ी चतुराई से घर की महिलाएं संभालती थीं। वे रोजमर्रा के उपयोग से थोड़ा दूध बचा लेतीं, दही और मावा तैयार करतीं और त्योहार के दिन वही स्वादिष्ट पकवान बनते। जलेबी, गुझिया, मठरी, चिरौंजी का हलवा और खुरमा। स्त्रियां केवल घर की रसोइया नहीं थीं, वे तो संस्कृति की संरक्षिका थीं। उनका हर काम परिवार के सुख और उत्सव से जुड़ा था। सच ही कहा गया है। मां अन्नपूर्णा की उपाधि यूं ही नहीं दी गई।